

यह पूरी तरह जंग है और दोनों ही पक्ष अपने-अपने हथियार चुन रहे हैं: अरुंधति रॉय

(अरुंधति रॉय से शोमा चौधरी की बातचीत) अनुवाद –मीनाक्षी अरोरा

आज पूरे देश में जो हिंसा का माहौल बना हुआ है; आप इन चीजों को कैसे देखती हैं? इनके क्या कारण हैं? इसे किस संदर्भ में देखा जाना चाहिए?

यह सब देख पाने के लिए विद्वान होना कोई जरूरी नहीं है। हमारे बीच एक ऐसा मध्यमवर्ग बढ़ रहा है, जिसमें स्वच्छंद-उपभोक्तावाद और बेतहाशा लालच पनप रही है। इसके लिए औद्योगिक पश्चिमी देशों ने तो संसाधनों की लूट व 'श्रमिक-दासों' के लिए उपनिवेश कायम कर लिए थे। लेकिन हमने तो अपने भीतर ही उपनिवेश कायम कर लिए हैं और खुद को ही खाना शुरू कर दिया है। बाजारीकरण के लिए बढ़ाई गई यह बेतहाशा लालच, (इसे ही राष्ट्रवाद के रूप में बेचा जा रहा है) लालच की प्यास गरीबों से उनकी जल-जंगल और जमीन को लूट करके ही बुझा सकते हैं।

आजाद भारत में जो सबसे सफल अलगाववाद आन्दोलन हम देख रहे हैं, वह यह है कि उच्च और मध्यम वर्ग ने अपने आपको पूरे देश से काट लिया है, यह संघर्ष लम्बवत है, क्षैतिज नहीं। वे वैश्विक प्रभु वर्ग में शामिल होकर एक अलग स्वर्ग बना लेना चाहते हैं, क्योंकि वे इसे अपना हक समझते हैं। उसने कोयला, खनिज, बाक्साइट, पानी और बिजली आदि सभी संसाधनों पर पहले ही कब्जा जमा लिया है। अब उन्हें और ज्यादा कारें, और ज्यादा बम, और ज्यादा खदानें- सुपरपावर्स के नागरिकों के लिए सुपरट्वायज (बम, मिसाइल आदि) बनाने के लिए गरीबों के जमीन की जरूरत है। यह पूरी तरह एक जंग ही है, जहाँ अमीर-गरीब दोनों तरफ के लोग अपने-अपने हथियार चुन रहे हैं। उच्च वर्ग की बेतहाशा लालच को पूरा करने के लिए ही सरकार और बहुराष्ट्रीय कंपनियां ढांचागत समायोजन में जुटी हैं, इस व्यवस्था को विश्व बैंक, एफडीआई (विदेशी प्रत्यक्ष निवेश), एडीबी (एशियन विकास बैंक), न्यायालय के आदेश, नीति-निर्माता, कार्पोरेट मीडिया और पुलिस आदि मिलकर सब के सब जनता की गर्दन दबा रहे हैं। इसके विपरीत, जो लोग इसका विरोध कर रहे हैं; उन्होंने धरने, भूख हड़ताल और सत्याग्रह किये, न्यायालय

गए और हर उस काम को किया, लेकिन राहत नहीं मिली, इसलिए अब वे हताश होकर बंदूक उठा रहे हैं। क्या ये हिंसा बढ़ेगी? अगर जनता की प्रगति और सम्पन्नता मापने का बैरोमीटर सेंसेक्स और विकास दर ही है, तो निश्चित रूप से हिंसा बढ़ेगी। मैं इस सबको किस रूप में देखती हूँ? इन चीजों को देखना ज्यादा मुश्किल नहीं है, यह तो साफ-साफ दिखाई दे रहा है। बीमारी तो सिर चढ़ गयी है।

आपने एक बार कहा था कि चाहे मैं हिंसा का सहारा नहीं लूंगी लेकिन देश के हालात को देखकर उसकी निंदा करना मैं अनैतिक मानती हूँ। क्या इसे आप तफसील से बता सकती हैं?

गुरिल्ला बनकर तो मैं बोझ बन जाऊंगी! मुझे शक है कि मैंने 'अनैतिक' शब्द का प्रयोग किया होगा, 'नैतिकता' शब्द गिरगिट जैसी हो गयी है, जो माहौल देखकर रंग बदल लेती है। मैं ऐसा महसूस करती हूँ कि अहिंसक आंदोलन दशकों से इस देश की हर लोकतांत्रिक संस्था का दरवाजा खटका रहे हैं, लेकिन वे उपेक्षित और अपमानित ही हुए हैं। भोपाल गैस पीड़ितों या नर्मदा बचाओ आंदोलन (एनबीए) को ही देख लीजिए। नर्मदा बचाओ आंदोलन के पास किसी भी दूसरे जनांदोलनों के अपेक्षा एक रसूख नेतृत्व, मीडिया कवरेज और संसाधन थे। लेकिन हुआ क्या? आज लोग रणनीति पर पुनर्विचार के लिए बाध्य हो गये हैं। आज जब सोनिया गांधी दावोस के वर्ल्ड इकॉनामिक फोरम का गुणगान कर रहीं हैं, तो हमारे लिए यह सोचने और चौंकने का समय है। उदाहरण के तौर पर क्या आज एक लोकतांत्रिक राष्ट्र-राज्य में सविनय अवज्ञा करना संभव रह गया है? क्या यह ऐसे युग में संभव है, जबकि मीडिया बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा नियंत्रित है और गलत सूचनाएँ जनता तक पहुँचा रहा है? क्या भूख हड़ताल और 'सेलिब्रेटी पोलिटिक्स' के बीच नाभिकीय रिस्ता हो गया है? अगर नांगला मांछी या भाटी माइन्स के लोग भूख हड़ताल करने लगे तो क्या कोई उनकी परवाह करेगा? इरोम शर्मिला पिछले छः सालों से भूख हड़ताल पर है। यह हममें से कईयों के लिए सबक भी है। मैंने हमेशा यह महसूस किया है कि यह एक माखौल की बात है कि ऐसे देश में जहाँ अधिकांश लोग भूखे रहते हैं; वहाँ भूख हड़ताल को राजनैतिक हथियार के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। अब जमाना बदल गया है, हमारे शत्रु का स्वरूप बदल गया है। हम एनजीओ के युग में प्रवेश कर चुके हैं या कहें कि हम 'पालतू शेर' के एक युग में प्रवेश कर चुके हैं, जहाँ जनांदोलन का रास्ता भी फिसलन भरा हो सकता है। पैसे देकर प्रदर्शन और प्रायोजित धरने कराए जाते हैं, सोशल फोरम बनाई जाती हैं, जो लड़ाकू प्रवृत्ति रखने की नाटकीय भूमिका अदा करती हैं, लेकिन वह जो उपदेश देती हैं, खुद उसका कभी पालन नहीं करतीं। हमारे पास भिन्न-भिन्न तरह के 'आभासी' विरोध होते हैं। सेज बनाने वाले ही सेज के खिलाफ बैठकों को प्रायोजित कर रहे हैं। पर्यावरण को नुकसान पहुँचाने वाली बहुराष्ट्रीय कंपनियों ही पर्यावरण सुरक्षा और सामुदायिक कार्यों के लिए पुरस्कार और सहायता दे रही हैं। उड़ीसा के जंगलों में बाक्साइट का उत्खनन करने वाली कंपनी 'वेदांता' अब विश्वविद्यालय शुरू करना चाहती है। टाटा के दो चैरिटेबल ट्रस्ट हैं, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से देश भर के

जनांदोलनों और आंदोलनकारियों को पैसे दे रहे हैं, क्या यही कारण तो नहीं है कि सिंगूर की आलोचना नंदीग्राम से कम हो रही है और शायद इसीलिए न तो उन्हें निशाना, न ही बहिष्कार व घेराव किया गया है।

निश्चित रूप से टाटा और बिड़ला ने गाँधी को भी पैसा दिया था— शायद वही (गांधी) हमारे पहले एनजीओ थे। लेकिन आज के एनजीओ तो बहुत शोर करते हैं, बहुत सी रिपोर्टें लिखते हैं, लेकिन सरकार को इनसे किसी भी तरह की कोई परेशानी नहीं है। पूरे राजनीतिक माहौल में भाड़े के लोग अपनी नौटंकी को ही असली राजनीति साबित करने में जुटे हैं। दिखावे का प्रतिरोध आज बोज़ बन गया है।

एक समय था जब जनांदोलन न्याय के लिए न्यायालय की तरफ़ देखते थे, लेकिन अब तो न्यायालयों ने पक्षपातपूर्ण फैसलों की झड़ी लगा दी है, अनेकों ऐसे निर्णय दिए हैं, जो अन्यायपूर्ण हैं, जिनमें गरीबों की इतनी बेइज्जती की जा रही है और जो भाषा इस्तेमाल की गयी है, उससे तो हलक सूख जाता है। हाल ही में उच्चतम न्यायालय ने अपने एक फैसले में वसन्तकुंज मॉल के पुनःनिर्माण की आज्ञा दी है, हालांकि इसके पास आवश्यक कानूनी मंजूरी भी नहीं है। इस फैसले में न्यायालय ने कहा कि किसी भी कारपोरेशन द्वारा गोरखधंधा करने का सवाल ही नहीं उठता है।

बहुराष्ट्रीय भूमंडलीकरण के दौर में बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा भूमि हड़पने, एनरॉन और मोन्सेंटो, हेलीबर्टन और बैक्टेल् के जमाने में यह बोलना देश की सबसे शक्तिशाली संस्थाओं के विचारधारा को उजागर कर देती है। कॉर्पोरेट प्रेस के साथ-साथ न्यायपालिका भी नवउदारवाद का हथियार बन गयी है। ऐसे माहौल में जबकि लोग खुद को इस अनवरत लोकतांत्रिक प्रक्रिया से थका हुआ महसूस कर रहे हैं, उन्हें केवल जलील किया जाता है, ऐसे में उनको क्या करना चाहिए? ऐसा नहीं है कि उनके पास हिंसा या अहिंसा का ही रास्ता बचा है। ऐसे राजनैतिक दल भी हैं, जो सशस्त्र संघर्ष में विश्वास तो करते हैं, लेकिन यह उनकी पूरी स्ट्रैटेजी का केवल एक हिस्सा है; इन संघर्षों में राजनैतिक कार्यकर्ताओं को बेरहमी से मारा-पीटा गया है और झूठे आरोप भी लगाए भी गये हैं, गिरफ्तार भी किया गया है। जनता इस बात को अच्छी तरह समझती है कि हथियार उठाने का मतलब क्या है; हिन्दुस्तान के राजकीय हिंसा के हजारों रूपों को अपने ही झेलना। छापामार सशस्त्र संघर्ष अगर रणनीति बन जाए तो आपकी दुनिया सिमट जाती है और सिर्फ दो ही रंग— स्वेत या श्याम दिखाई पड़ते हैं। लेकिन सभी विकल्प खत्म हो जाने पर हारकर जनता हथियार उठाने का निर्णय लेती है तब क्या हमें उसकी निंदा करनी चाहिए? क्या कोई विश्वास करेगा कि अगर नंदीग्राम के लोग धरना देते या गाना गाते तो पश्चिम बंगाल सरकार अपना निर्णय वापस ले लेती?

हम ऐसे समय में जी रहे हैं, जहां निष्क्रिय रहने का मतलब निरंकुशता का समर्थन करना है (जो निश्चित रूप से हममें से कुछ लोगों को भाता भी है) और सक्रिय होने का मतलब भयानक कीमत चुकाना है और जो लोग इस कीमत को चुकाने के लिए तैयार हैं, उनकी आलोचना करना मेरे लिए बहुत ही मुश्किल है।

आपने बहुत सारी यात्राएं की हैं—बहुत सारे संघर्षों को भी देखा है, क्या उनके बारे में कुछ बता सकती हैं? आप कौन से ऐसे स्थानों पर गई हैं? क्या इन स्थानों के कुछ संघर्षों के मुद्दों पर आप रोशनी डाल सकती हैं?

बहुत बड़ा प्रश्न है— क्या कहूँ? कश्मीर में सैनिक कब्जा, गुजरात में नव फ्रांसीवाद, छत्तीसगढ़ में गृह—युद्ध, उड़ीसा में बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा लूट, नर्मदा घाटी में सैकड़ों गांवों का डूबना, भुखमरी के कगार पर खड़े लोग, जंगलों का उजाड़ा जाना और भोपाल गैस त्रासदी के 24 वर्ष के आंदोलन से पीड़ितों को कुछ नहीं मिलने के बावजूद पश्चिम बंगाल सरकार नंदीग्राम में यूनियन कार्बाइड (जिसे अब 'डॉव केमिकल्स' ने खरीद लिया है।) को दोबारा निमंत्रण दे रही है। मैं अभी हाल में आंध्र प्रदेश, कर्नाटक और महाराष्ट्र तो नहीं गई हूँ, लेकिन हम जानते हैं कि वहां लगभग एक लाख किसानों ने आत्महत्याएं की हैं। आंध्र प्रदेश में हुई झूठी गिरफ्तारियों और भयानक दमन के बारे में हम जानते ही हैं। इनमें से हर स्थान का अपना विशिष्ट इतिहास, अर्थव्यवस्था और पर्यावरण है। इनका विश्लेषण करना आसान नहीं है, फिर भी इन सबमें कुछ चीजें जैसे विशाल अंतरराष्ट्रीयता, सांस्कृतिक और आर्थिक दबाव के कारण एक जुड़ाव है। हिन्दुत्व प्रोजेक्ट की भी मैं बात करना चाहूंगी, जो हमारे नश में अपना जहर फैला रहा है और एक बार फिर फटने का इंतजार कर रहा है। मैं कहूंगी कि इस सबके बाद भी विडम्बना तो यह है कि हम अब भी एक देश, एक संस्कृति और एक समाज हैं, जहाँ आज भी छुआछूत की प्रथा का प्रचलन है। जहां हमारे अर्थशास्त्री वृद्धि दर को लेकर डींग हांकते हैं, जबकि देश में अभी भी पेट पालने के लिए लाखों दलित प्रतिदिन दूसरे लोगों के मनो मैला अपने सिर पर ढोते हैं। दुनिया में कोई और ऐसा सुपरपावर है क्या?

हाल ही में बंगाल में हुई राज्य और पुलिस द्वारा हिंसा को कैसे देखा जा सकता है?

यह मामला किसी अन्य दूसरे राज्यों में हुई राज्य और पुलिस द्वारा हिंसा से अलग नहीं है— इसमें पाखंड और दोमुहें व्याख्यानों का मामला भी शामिल है, जिसमें मुख्यधारा के वामपंथी दल सहित अन्य सभी राजनैतिक पार्टियों की वाकपटुता शामिल है। क्या साम्यवादियों की गोलियां पूंजीवादियों से अलग हैं? अजीब— अजीब घटनाएं हो रही हैं। सउदी अरब में बर्फ पड़ रही है, तो कहीं दिन में उल्लू दिखाई दे रहे हैं। चीन सरकार निजी संपत्ति के अधिकार विधेयक को पारित करने के लिए बैठक कर रही है। मुझे नहीं पता कि क्या यह सब वातावरण परिवर्तन की वजह से हो रहा है! चीन के साम्यवादी इक्कीसवीं सदी के सबसे बड़ी पूंजीवादी बन रहे हैं। तो फिर हम अपने संसदीय वामपंथियों से अलग उम्मीद क्यों करें? नंदीग्राम और सिंगूर इस बात के स्पष्ट संकेत हैं।

यह सोचने की बात है कि क्या हर क्रांति का अंत आधुनिक—पूँजीवाद होता है? जरा सोचिए, आपको आश्चर्य होगा—फ्रांसीसी क्रांति, रूसी क्रांति, चीनी क्रांति, वियतनाम युद्ध, रंगभेद विरोधी संघर्ष और भारत में स्वतंत्रता के लिए कथित गाँधीवादी संघर्ष! इन सबका अंजाम क्या हुआ? क्या यह कल्पना का अंत है?

बीजापुर में माओवादी हमला— जिसमें पचपन पुलिस कर्मियों की मौत हुई थी। क्या यह विद्रोह राजकीय हिंसा का ही दूसरा चेहरा तो नहीं है?

कैसे यह कहा जा सकता है कि यह हमला राजकीय हिंसा का दूसरा चेहरा है? क्या कोई यह कहेगा कि जो लोग रंगभेद के खिलाफ लड़े, चाहे उनके तरीके कैसे भी रहे हों, वह भी राजकीय हिंसा का दूसरा रूप था? जो अल्जीरिया में फ्रांसीसियों से लड़े उनके बारे में आप क्या कहेंगे? या जो नाजियों से लड़े, जो उपनिवेशवादी ताकतों से लड़े, या वे जो इराक में अमेरिकी कब्जे के खिलाफ लड़ रहे हैं, क्या यह सब भी राजकीय हिंसा का दूसरा रूप है? इससे आधुनिक मानव अधिकार वाली रिपोर्ट की भाषा का प्रयोग कर हम राजनीतिक बन जाते हैं, जिससे असली राजनीति बह जाती है। जितना भी हम धर्मात्मा बनने की कोशिश करें, जितना भी हम अपनी जटा में भभूत लगाएं, हमारे पास कोई विकल्प नहीं रह गया है। लेकिन दुःखद तो यह है कि हम हिंसा के माहौल में खुद को साफ-सुथरा नहीं रख सकते, हमारे पास कोई विकल्प ही नहीं है। छत्तीसगढ़ में गृहयुद्ध चल रहा है, जिसे राज्य सरकार चला रही है और सार्वजनिक रूप से बुश सिद्धांत का पालन कर रही है— 'अगर तुम हमारे साथ नहीं हो तो तुम आतंकवादियों के साथ हो।' इस जंग में औपचारिक सुरक्षा बलों के साथ-साथ सलवा-जुडूम भी एक प्रमुख हथियार है, जो नागरिक सेना का सरकारी समर्थन प्राप्त सशस्त्र सैनिक है, जो 'स्पेशल पुलिस आफिसर' (एसपीओ) बनने को मजबूर हो गया है। सरकारों ने कश्मीर, मणिपुर नागालैंड में भी यही कोशिश की है। हजारों लोग मारे गए हैं। लाखों लोगों को सताया गया है, हजारों लोग लापता हो गए हैं। कोई 'बनाना रिपब्लिक' ही ऐसी चीजों पर गर्व कर सकती हैं..... और अब सरकार इन नकारा तरीकों को हर जगह पर लागू करना चाहती है। हजारों आदिवासी अपनी खनिज प्रधान जमीनों को पुलिस छावनी में बदलने पर मजबूर हो गए हैं। सैकड़ों गाँवों को जबरदस्ती खाली करा दिया गया है। जिन जमीनों में लौह-अयस्क बहुतायत में है, वहां टाटा और एस्सार जैसी कंपनियों की गिद्ध-दृष्टि लगी हुई है। जमीन देने के समझौता-पत्रों (एमओयू) पर हस्ताक्षर किए गए हैं लेकिन कोई नहीं जानता कि उनमें क्या कहा गया है, पर भूमि अधिग्रहण शुरू हो गया है। इसी तरह की घटनाएं दुनिया के सबसे ज्यादा उजड़े हुए देशों में से एक कोलंबिया में हो रही हैं, जब सबकी आखें सरकारी समर्थन प्राप्त नागरिक सैनिकों और गुरिल्ला सैनिकों के बीच बढ़ती हुई हिंसा पर लगी है, तो ऐसे समय में बहुराष्ट्रीय कम्पनियां चुपचाप खनिज सम्पदा लूटने में लगी हुई हैं। रंगमंच की ऐसी ही छोटी सी 'स्क्रिप्ट' छत्तीसगढ़ में लिखी जा रही है।

वास्तव में यह दुख की बात है कि 55 पुलिसकर्मी मारे गए; लेकिन वे भी दूसरों की तरह सरकारी नीति के ही शिकार हैं। सरकार और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिए तो मात्र वे एक तोप के गोले के तरह हैं— पुलिसकर्मी तो सत्ता के हथियार मात्र हैं, कुछ मर गये तो सरकारे और भर्ती कर लेंगी। ऐसी मौतों पर मगरमच्छ के आँसू बहाए जाएँगे, कुछ समय के लिए टीवी एंकर हमें भी फड़फड़ा देते हैं। होगा क्या? और पुलिसकर्मी आ जाएंगे। जहां तक माओवादियों की बात है— तो उन्होंने जिन पुलिस और 'पुलिस के विशेष अधिकारियों' (एसपीओ) व सरकारी अधिकारियों को मारा; वे सब दमन, यातनाओं, हत्याओं और झूठे मुठभेड़ों के आरोपी थे; गांवों को जलाना और स्त्रियों

के साथ बलात्कार करना उनके व्यवसायिक कर्तव्यों में था। चाहे कितना ही दूर तक सोच लीजिए— अगर वे वास्तव में ऐसे हैं— तो वे निर्दोष नागरिक नहीं हैं।

मुझे इनमें कोई संदेह नहीं कि माओवादी आतंक और दमन के एजेंट हैं। मुझे इसमें भी कोई शक नहीं कि उन्होंने भी बेरहमी की होंगी। बेशक वे इस बात का भी दावा नहीं कर सकते कि स्थानीय लोग बिना किसी प्रतिरोध के उनका समर्थन कर रहे हैं— लेकिन यह दावा कौन कर सकता है? फिर भी कोई गुरिल्ला सेना बिना स्थानीय समर्थन के टिक भी तो नहीं सकती। यह तार्किक रूप से भी असम्भव है और माओवादियों का समर्थन कम नहीं हुआ है, बल्कि बढ़ रहा है। जनता के पास कोई विकल्प नहीं है सिवाय इसके कि वह जिसको कम बुरा समझती है, उसकी ओर हो जाती है। पर यह कहना कि नाईसाफी के खिलाफ जो लड़ रहे हैं और जो नाईसाफी सरकार कर रही है दोनों एक जैसे हैं, तो यह कहना अजीब सी बात है। सरकार ने अहिंसक प्रतिरोध के लिए सभी दरवाजे बंद कर लिये हैं। इस पर जब लोग हथियार उठाते हैं, तो हर प्रकार की हिंसा होने लगती है— क्रांतिकारी, लम्पट और पूरी तरह अपराधी। इससे उत्पन्न हुई भयानक परिस्थितियों के लिए सरकार खुद उत्तरदायी है।

‘नक्सली’, ‘माओवादी’ और ‘बाहरी लोग’ इस तरह के शब्द आजकल बहुत ज्यादा इस्तेमाल किए जा रहे हैं। क्या आप इन्हें परिभाषित कर सकती हैं?

‘बाहरी ताकतें’ इस तरह का दोषारोपण दमन की प्रारंभिक अवस्था में किसी भी सरकार द्वारा किया जाना स्वाभाविक है। किसी भी घटना के लिए सरकारें सहजता से सारा दोष बाहरी ताकतों के सिर मढ़ देती हैं और अपने ही प्रचार पर विश्वास करने लगती हैं और सरकारें शायद इस बात का अनुमान भी नहीं लगा पातीं कि जनता उसके विरोध में खड़ी हो गई है। यही सब बंगाल में माकपा कर रही है। हालांकि कुछ लोग कहेंगे कि बंगाल में यह दमन नया नहीं है। बस अब केवल बढ़ गया है— फिर भी ये ‘बाहरी ताकतें’ कौन हैं? सीमाओं का निर्धारण कौन करता है? क्या वे गाँव की सीमाएँ हैं? तहसील? ब्लाक? जिला या राज्य की सीमाएँ हैं? क्या संकीर्ण क्षेत्रीय और धार्मिक राजनीति साम्यवादियों का नया मंत्र है? रही नक्सली और माओवादियों की बात— भारत पुलिस राज्य बनता जा रहा है, जिसमें जो भी व्यवस्था का समर्थन नहीं करेगा, उसे आतंकवादी करार दिए जाने का खतरा उठाना पड़ेगा। मुस्लिम आतंकवादी को मुस्लिम होना जरूरी है— आदि जैसे वर्गीकरण से बचने के लिए उन्हें एक ऐसा नाम चाहिए था, जो सभी को परिभाषित कर दे। इसलिए परिभाषाओं को छोड़ दें, बिना परिभाषा के ही ठीक हैं। क्योंकि वह समय दूर नहीं जब हम सभी को माओवादी या नक्सलवादी, आतंकवादी या आतंकवादियों का समर्थक कहा जाएगा और फिर जेलों में बंद कर दिया जाएगा, उन लोगों के द्वारा जो वास्तव में या तो जानते नहीं हैं या इस बात की परवाह नहीं करते हैं कि माओवादी या नक्सली कौन हैं। गाँवों में यह कार्यक्रम शुरू हो गया है और हजारों लोगों को जेलों में डाला जा रहा है। उन्हें राज्य को समाप्त करने की कोशिश करने वाले आतंकवादी करार दिया गया है।

असली नक्सली और माओवादी कौन हैं? मैं इस विषय की विशेषज्ञ तो नहीं हूँ, लेकिन इनका एक मौलिक इतिहास है।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का गठन 1925 में हुआ था और 1964 में इसका विभाजन हुआ और मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी—माकपा इससे अलग हो गई और एक अलग पार्टी बना ली। दोनों ही संसदीय राजनैतिक दल थे। 1967 में माकपा ने कांग्रेस से अलग हुए एक गुप के साथ पश्चिम बंगाल में सत्ता हासिल की। उस समय देहात के भूखों मर रहे किसानों में काफी रोष था। माकपा के स्थानीय नेता कानू सान्याल और चारू मजूमदार ने नक्सलबाड़ी जिले में किसानों को संगठित किया और यहीं से नक्सली शब्द की शुरुआत हुई। 1969 में सरकार गिर गई और सिद्धार्थ शंकर रे के नेतृत्व में कांग्रेस के हाथ में पुनः सत्ता आ गई। नक्सलियों को निर्दयता से कुचला गया। इस समय के बारे में महाश्वेता देवी ने लिखा भी है। 1969 में माकपा से भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (लेनिनवादी—मार्क्सवादी)—‘सीपीआई (एमएल)’ अलग हो गए। कुछ सालों के बाद 1971 के आसपास सीपीआई(एमएल) कुछ दलों में बँट गई। जैसे बिहार में सीपीआई—एमएल(लिबरेशन), सीपीआई— एमएल(न्यू डिमोकसी) जो आंध्र प्रदेश और बिहार के कई हिस्सों में काम कर रही है और सीपीआई—एमएल (वर्गसंघर्ष) जो मुख्य रूप से बंगाल में सक्रिय है। इन दलों को ही नक्सली कहा जाता है। वे अपने को माओवादी नहीं, बल्कि लेनिनवादी मार्क्सवादी के रूप में देखते हैं। वे चुनावों, जनकार्यवाही और हमला होने की स्थिति में सशस्त्र संघर्ष में भी विश्वास करते हैं। बिहार में कार्यरत एमसीसी(माओईस्ट कम्युनिस्ट सेंटर) का गठन 1968 में हुआ था। आंध्र प्रदेश के अधिकांश हिस्सों में कियाशील पीडब्लूजी(पीपुल्स वार ग्रुप) 1980 में बनी थी और एमसीसी और पीडब्लूजी ने 2004 में ही मिलकर भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी(माओवादी) का गठन किया है। वे राज्य को समाप्त करने और पूर्ण युद्ध में विश्वास करते हैं। वे चुनाव में भाग नहीं लेते। यही वह दल हैं, जो बिहार, आंध्र प्रदेश, छत्तीसगढ़ और झारखंड में गुरिल्ला युद्ध कर रहे हैं।

भारत सरकार और मीडिया माओवादियों को 'आंतरिक सुरक्षा' के लिए बड़े खतरे के रूप में देखते हैं। क्या उन्हें इसी रूप में देखा जाना चाहिए?

मुझे यकीन है कि माओवादी इस परिभाषा से काफी खुश होंगे।

माओवादी व्यवस्था बदलने के मकसद से लड़ रहे हैं। वे माओ की तानाशाही विचारधारा से प्रेरणा लेते हैं। वे क्या विकल्प तय करेंगे? क्या उनके शासन में शोषणकारी निरंकुश हिंसा नहीं होगी? क्या वे पहले से ही आम आदमी का शोषण नहीं कर रहे हैं? क्या वास्तव में उन्हें आम आदमी का समर्थन मिल रहा है?

मुझे लगता है कि हमारे लिए यह बताना जरूरी है कि माओ और स्टालिन दोनों ही हत्याओं के इतिहास के साथ संदिग्ध हीरो हैं। उनके शासन में करोड़ों लोग मारे गए थे। चीन और सोवियत संघ में जो कुछ हुआ, उसके अलावा पोलपोट ने चीनी साम्यवादी दल के समर्थन से कम्बोडिया में दो लाख लोगों को खत्म कर दिया था (इस दौरान पश्चिमी देशों ने जानबूझकर चुप्पी साध रखी थी) और लाखों लोगों को बीमारी और भुखमरी के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया था। क्या हम चीन में हुई सांस्कृतिक क्रान्ति की हिंसा से मुंह मोड़ सकते हैं? या इस बात को नकार सकते हैं कि सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप में लाखों लोग लेबर कैंपों और टार्चर-चैम्बरों, जासूसों और गुप्तचरों व पुलिस के शिकार नहीं हुए थे? इनका इतिहास भी पश्चिमी साम्राज्यवाद के इतिहास की तरह अंधकारमय ही है। बस केवल इतना फर्क है कि इसका जीवनकाल बहुत छोटा था। अगर हम तिब्बत और चेचन्या के मुद्दे पर मौन रहते हैं तो हम इराक, फिलिस्तीन, और कश्मीर में हो रही कार्यवाहियों की आलोचना भी नहीं कर सकते। मैं यह उम्मीद करूंगी कि माओवादी, नक्सली और मुख्य वामपंथी अपने इतिहास से सीख लेते हुए अपने इतिहास को दोबारा नहीं दोहराएंगे और भविष्य में जन-विश्वास को कायम रखेंगे। क्योंकि लोग यही उम्मीद करते हैं कि इतिहास दोहराया नहीं जाएगा। लेकिन वे इससे पलटते हैं तो जनता का विश्वास नहीं जीत सकते.....फिर भी नेपाल के माओवादियों ने नेपाल के राजतंत्र के खिलाफ बहादुरी और सफलतापूर्वक संघर्ष किया है और अब भारत में भी माओवादी और विभिन्न लेनिनवादी-मार्क्सवादी दल अन्याय के खिलाफ लड़ाई का नेतृत्व कर रहे हैं। वे न केवल राज्य बल्कि सामंती जमींदारों और उनके सशस्त्र सैनिकों के खिलाफ भी संघर्ष कर रहे हैं। लड़ने वालों में वे आज अकेले ही हैं और इसके लिए मैं उनकी प्रशंसा करती हूँ। ऐसा हो सकता है, जैसा आपने कहा कि जब उनके हाथ में सत्ता आए तो वे कूर, अन्यायी और निरंकुश और शायद वर्तमान सरकार से भी बुरे साबित हों। हो सकता है, लेकिन मैं इस सब के बारे में पूर्वधारणा बनाने के लिए तैयार नहीं हूँ। अगर वे ऐसे बनते हैं तो हमें उनके खिलाफ भी लड़ना होगा और उसके लिए पहला व्यक्ति कोई मेरे जैसा ही होगा। लेकिन अभी तो यह समझना महत्वपूर्ण है कि वे प्रतिरोध के मोर्चे पर सबसे आगे खड़े हैं। हममें से कई लोग, उन लोगों के साथ हो लेते हैं, जहां हमें पता है कि यहाँ धार्मिक या वैचारिक रूप से हमारी कोई जगह नहीं है। यह सच है कि सत्ता मिलते ही प्रत्येक स्वाभाविक रूप से बदल जाता है। मंडेला के अफ्रीकी नेशनल कांग्रेस को ही देख लीजिए- भ्रष्ट, पूंजीवादी, आईएमएफ के आगे सिर झुकाने वाली, गरीबों को उनके घर से बेघर करने वाली, लाखों इन्डोनेशियाई साम्यवादियों की हत्या करने वाले सुहार्तो का सम्मान करने वाली (जिसे दक्षिण अफ्रीका के सर्वोच्च नागरिक पुरस्कार से नवाजा गया था)। किसने सोचा था कि ऐसा होगा, लेकिन क्या इसका मतलब यह है कि दक्षिण अफ्रीका को रंगभेद के खिलाफ संघर्ष को रोक देना चाहिए था? या फिर इसके लिए उन्हें अब पछताना चाहिए? क्या इसका मतलब यह है कि अल्जीरिया को फ्रांसीसी उपनिवेश में बने रहना चाहिए? क्या कश्मीरियों, फिलिस्तीनियों और इराकियों को सैनिक कब्जा को स्वीकार कर लेना चाहिए? जिन लोगों की गरिमा को चोट पहुंची है, क्या उन्हें लड़ाई छोड़ देनी चाहिए? इसलिए कि उन्हें जंग में नेतृत्व करने वाला कोई संत-महात्मा नहीं मिला।

क्या हमारे समाज में आपसी संवाद की भाषा खत्म हो गयी है?

बिल्कुल।

शब्द संख्या- 3800

आलेख प्रकाशित होने की स्थिति में अखबार की कतरन और पारिश्रमिक राशि 'पीपुल्स न्यूज नेटवर्क' दिल्ली
पीपुल्स न्यूज नेटवर्क संपादक मंडल- अमित सेन गुप्ता, अरुण अग्रवाल, भारत डोगरा, ई पी मेनन, हर्ष डोभाल, जावेद नकवी,
(समाचार-विचार सर्विस) कार्यकारी सम्पादक -शिराज केसर, पीएनएन, 14 सुप्रीम एन्क्लेव, मयूर विहार फेज 1, दिल्ली-91, फोन-011.22756796 ईमेल-peoplesnew